
bdkbz 16 nfyv vkRedFkk dh fo'ks'krk 9 I kekftd—I kL—frd i fj fLFkfr; ksd: nLrkost.

bdkbz dh : i js[kk

- 16.0 उद्देश्य
- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 सामाजिक परिस्थिति
 - 16.2.1 दलित जीवन के विविध रूप
 - 16.2.2 जाति केन्द्रित गाँवों की बनावट
 - 16.2.3 सामाजिक उत्पीड़न की प्रकृति
- 16.3 धार्मिक परिस्थिति
 - 16.3.1 धार्मिक विश्वास के स्थानीय रूप
 - 16.3.2 वर्णवादी धार्मिकता का यथार्थ
 - 16.3.3 क्रांतिकारी नव जागृति : बौद्ध मत की ओर
- 16.4 शैक्षिक परिस्थिति
 - 16.4.1 ज्ञानार्जन के पारंपरिक रूप
 - 16.4.2 शिक्षा और दलित : रुकावटों से टकराती नई ऊर्जा
- 16.5 राजनीतिक परिस्थिति
- 16.6 दलित स्त्री आत्मकथा का वैशिष्ट्य
 - 16.6.1 दलित स्त्री की जिंदगी का सच
 - 16.6.2 दलित स्त्री का प्रतिरोध
- 16.7 सारांश

16-0 m1s ;

दलित आत्मकथन दलित आंदोलन और लेखन की उपज हैं। ये आत्मकथन इस आंदोलनधर्मी लेखन के बहुमूल्य हिस्से हैं। इन्हें दलित जिंदगी का दस्तावेज़ कहा जाना चाहिए। हालाँकि यह कथन एक अर्थ में अधूरा है। दलित आत्मकथन वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय समाज के दस्तावेज़ हैं। इन आत्मकथनों का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन तो ज़रूरी है ही लेकिन उससे कहीं ज्यादा ज़रूरी है इनका समाजशास्त्रीय अध्ययन। सामाजिक वास्तविकता के विविध पहलू इन आत्मकथनों में दर्ज हैं। इस इकाई के अध्ययन से मोटे तौर पर निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी :

- दलित आत्मकथन विधा का स्वरूप;
- भारतीय सामाजिक संरचना में दलित जीवन;
- आत्मकथनों में अंकित सामाजिक उत्पीड़न के विविध रूप;
- सामुदायिकता की जकड़बंदी और व्यक्ति के निर्माण की परिस्थितियाँ;

- दलित धार्मिकता का अर्थ;
- वर्णवादी धार्मिकता के छल;
- बौद्ध मत और दलित समुदाय;
- दलितों की शैक्षिक परिस्थिति;
- शिक्षा के लिए दलितों के संघर्ष की बानगियाँ;
- शैक्षिक संस्थानों का जातिवादी रूप;
- राजनीतिक परिस्थिति और दलित;
- राजनीतिक परिदृश्य में दलितों की उपस्थिति का अर्थ;
- दलितों की आर्थिक स्थिति;
- दलित आत्मकथनों में दर्ज भूख और दरिद्रता के अनुभव;
- बदलता आर्थिक परिदृश्य;
- दलित स्त्री आत्मकथनों का वैशिष्ट्य;
- सामाजिक-सांस्कृतिक वास्तविकताओं के दस्तावेजीकरण में आत्मकथनों की भूमिका का मूल्यांकन; और
- दलित आत्मकथनों से अपेक्षाएँ : भविष्य-दृष्टि का सवाल।

इन बिन्दुओं के अतिरिक्त इस इकाई में हम प्रसंगत: कुछ अन्य बिन्दुओं से भी अवगत होंगे जैसे दलित भाषा का स्वरूप, आत्मकथन विधा के नामों को लेकर हुई बहस, सपाट यथार्थ की जगह संश्लिष्ट यथार्थ की ओर झुकाव, नए आत्मकथनों का दौर आदि।

16-1 आत्मकथा

दलित लेखन की सबसे चर्चित विधा आत्मकथन है। इसकी शुरुआत डॉ. भीमराव आंबेडकर के आत्मकथ्य 'मेरा जीवन' से मानी जा सकती है। यह आत्मकथ्य 'जनता' पत्र के 6 नवंबर, 1954 अंक में छपा था। इसमें डॉ. आंबेडकर ने 'मेरा जीवन' नाम से एक सम्पूर्ण आत्मवृत्त लिखने की योजना का जिक्र किया था। उनके ही शब्दों में, "सभी स्मृतियों को समेटकर एक आत्मकथा लिखने का मेरा विचार है। समग्र आत्मकथा न लिखूँ तो कम से कम 'मेरा बचपन' नाम से एक पुस्तक जरूर लिखूँगा।" (देखें, 'अपेक्षा' पत्रिका के जुलाई-सितम्बर, 2003, दलित आत्मवृत्त विशेषांक में प्रकाशित 'मेरा बचपन' शीर्षक आत्मकथ्य।) 1956 में डॉ. आंबेडकर की मृत्यु हो जाने के कारण आत्मकथा लिखने की उनकी योजना साकार न हो पायी। आंबेडकरी चेतना के साथ लिखी गई शुरुआती आत्मकथाओं में शंकर राव खरात की 'तराल-अंतराल' (1976), दया पवार की 'बलूत' (1978), माधव कोंडविलकर की 'मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठणे' (1979) के नाम लिए जा सकते हैं। लेकिन किसी दलित के पहले आत्मकथन के रूप में नाम लेना हो तो हजारी द्वारा लिखित 'आइ वाज़ एन आउटकास्ट इण्डियन' (1951) को रखा जा सकता है।

दलित आत्मकथन गैर-दलित आत्मकथन से भिन्न होते हैं। यह भिन्नता उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण है। अपनी उपलब्धियों का आकलन करने के लिए जीवन के अंतिम दौर में आत्मकथाएँ लिखी जाती रही हैं लेकिन दलित आत्मकथन अपने समुदाय की वेदना की अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हें लिखने के लिए दलित लेखक अपने बूढ़े होने का इंतज़ार नहीं करता। वह वर्ण व्यवस्था द्वारा थोपी गई दम घोटू मर्यादाओं में जीते अपने

समुदाय की व्यथा-कथा लिखता है। इस व्यथा का इतिहास शताब्दियों का है। दलित लेखक को जो सामुदायिक स्मृति मिली है वह भी शताब्दियों की है। ऐसे आत्मकथनों में 'व्यक्ति' महत्वपूर्ण नहीं होता। संघर्ष का इतिहास, उत्पीड़न की परंपरा, जीवन-स्थितियों का ब्यौरा ही महत्वपूर्ण होता है। क्योंकि यह सब एक व्यक्ति (लेखक/लेखिका) द्वारा कलमबद्ध होता है इसलिए उसको निजी जिंदगी, उसका व्यक्तित्व भी निर्णायक भूमिका में आ जाते हैं। स्वयं चेतना सम्पन्न होने के बाद वह उस परिवर्तनकारी चेतना का प्रसार-विस्तार करना चाहता है और इसी क्रम में उसका आत्मकथन रचा जाता है।

जाहिर है कि दलित आत्मकथन का वैशिष्ट्य उसके अर्न्तवस्तु के कारण है। यही वजह है कि कई चिंतकों ने इस विधा के नाम पर पुनर्विचार किया और पहले से प्रचलित नाम 'आत्मकथा' के प्रयोग पर अपनी आपत्ति दर्ज की। ऐसे विचारकों में मराठी के वरिष्ठ चिंतक व आंबेडकरवादी रचनाकार यशवंत मनोहर हैं। उनके शब्दों में, 'आत्म' शब्द अपने साथ कर्म सिद्धांत लेकर आता है। कर्म सिद्धांत का संबंध वर्ण व्यवस्था के साथ है। यहाँ की संस्कृति ने आत्म की अवधारणा द्वारा शोषण का ऐसा विलक्षण दर्शन, विषमता का जहरीला विचार-व्यूह प्रस्तुत किया है, जो विश्व के किसी भी देश या समाज में नहीं है। दलितों के शोषण की केन्द्रवर्ती आधारशिला ही यह 'आत्मा' शब्द है। इस शब्द का प्रयोग दलितों के स्वकथन के साथ लगाना वास्तव में उनकी नास्तिक (बौद्ध) प्रेरणाओं का मजाक उड़ाना है। इस कारण दलितों के अनुभव कथन पर लेखक के लिए 'स्वकथन' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए।" (दलित साहित्य : स्वरूप और संवेदना, (2009) सूर्य नारायण रणसुभे द्वारा उद्धृत, 'मराठी की दलित आत्मकथा या 'स्वकथन' शीर्षक अध्याय से)। यशवंत मनोहर के इस प्रस्ताव से असहमति जाहिर करते हुए मराठी के ही दूसरे लेखक आनंद साधले ने कहा कि आत्मकथा में आया 'आत्म' शब्द का 'आत्मा' से कोई संबंध नहीं है। यह 'स्व' अथवा 'लेखकीय व्यक्तित्व' के अर्थ में प्रयुक्त है। (देखें, सूर्य नारायण रणसुभे, उपर्युक्त)। एक बहस 'कथा' शब्द को लेकर भी उठाई गई। 'कथा' काल्पनिक होती है, रंजनार्थ होती है जबकि दलित जीवन में यथार्थ और वेदना मुख्य है। इसलिए, कथा के स्थान पर कथन शब्द के इस्तेमाल का आग्रह हुआ। मराठी दलित आलोचना में अब 'आत्मकथा' विधा को 'स्वकथन', 'स्ववृत्त', 'आत्मवृत्त', 'आंबेडकरवादी आत्मकथन' आदि कहा जाता है। इस शब्द-सजगता का प्रभाव अन्य भाषाओं के दलित साहित्य पर भी पड़ा। हिन्दी में ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे दलित चिंतक 'आत्मकथा' नाम को लेकर किसी बहस के पक्ष में नहीं हैं। वे तरह-तरह के विकल्पों के प्रयोग में मुख्य बहस से भटक जाने का खतरा देखते हैं। 'आत्मकथा' के प्रयोग में कोई दिक्कत नहीं, बशर्तें कृति में निहित आंबेडकरी चेतना बनी रहे।

प्रसंगवश यह भी याद कर लिया जाए कि मराठी से अनुदित कई दलित आत्मकथनों को हिन्दी प्रकाशकों ने 'आत्मकथात्मक उपन्यास' बताते हुए छापा। उन्होंने किस मंशा से दलित जीवन के असल वृत्तांत को उपन्यास कहा, स्पष्ट नहीं। 'अछूत' (दया पवार), 'यादों के पंछी' (प्रा. ई. सोनकांबले) और 'अक्करमाशी' (शरण कुमार लिम्बाले) आदि के आत्मकथनों को 'आत्मकथात्मक उपन्यास' लिखने के बावजूद पाठकों ने उन्हें उपन्यास नहीं माना इसलिए परवर्ती आत्मकथनों को उपन्यास कहने की प्रवृत्ति पर रोक लग गई।

दलित आत्मकथनों की रचना-प्रक्रिया को समझने के लिए कुछ बुनियादी बातों की चर्चा ज़रूरी है। इनमें से तीन मुख्य बिन्दु हैं:

- 1) विद्रोही चेतना,
- 2) इतिहास बोध, और
- 3) भविष्य-दृष्टि।

किसी भी आंबेडकरवादी आत्मकथन की निर्मिति, लक्ष्य और प्रभाव इन तीनों बिन्दुओं से अनिवार्यतः जुड़ा होता है। रचनाकार की विद्रोही चेतना इन तीन चीजों से मिलकर बनती है :

- 1) मेरे पूरे समुदाय का दुख मेरा दुख है और मेरा दुख सिर्फ मेरा नहीं है।
- 2) यह दुख वर्ण-जातिवादी समाज-व्यवस्था की देन है।
- 3) मैं इस व्यवस्था को सिरे से अस्वीकार करता/करती हूँ और प्रयत्नशील हूँ कि पूरा समाज या कम से कम मेरा समुदाय ऐसा ही करे।

आंबेडकरवादी लेखक/लेखिका इतिहास बोध से कभी विच्छिन्न नहीं होता/होती। उसके इतिहास-बोध का आशय है :

- 1) वर्चस्व का कोई दैवी आधार नहीं होता। सनातनता, दैवीयता और ईश्वरवाद प्रभुत्व को कायम रखने की तरकीबें हैं।
- 2) मनुष्य के विकास-क्रम को वैज्ञानिक दृष्टि से परखा जाना और
- 3) शोषण और उत्पीड़न के सभी रूपों का संज्ञान – इसमें विकास, विस्थापन और शासन से जुड़े मुद्दों के साथ आंतरिक जातिवाद तथा पितृसत्ता के मुद्दे विशेष रूप से शामिल हैं।

भविष्य-दृष्टि के अंतर्गत निम्न बिन्दु विचारणीय हैं:

- 1) वैकल्पिक समाज की संभावना में यकीन। प्रतिरोध की संस्कृति से सम्बद्धता।
- 2) समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मूल्यों में विश्वास।
- 3) दलित अस्मिता के लिए संघर्ष लेकिन इस अस्मिता को ही अंतिम न मानकर संपूर्ण मनुष्यता की बेहतरी का लक्ष्य।

पारंपरिक साहित्य विमर्श में आत्मकथा विधा को कभी महत्व नहीं दिया गया। भारत में इस विधा की पहली कृति बनारसीदास जैन कृत 'अर्धकथा' (1640) मानी जाती है। इसके बाद एक लंबे अरसे तक कोई आत्मकथा नहीं लिखी गयी। आधुनिक काल में आकर इस विधा को कुछेक लेखकों तथा जन नायकों द्वारा अपनाया गया लेकिन छिटपुट रूप में ही। तमाम गद्य विधाओं के बीच इसे दलित विमर्श और स्त्री विमर्श के उभार के बाद ही प्रतिष्ठा मिली।

16-2 | kekftd i fjLFkfr

भारतीय साहित्य विमर्श खासकर संस्कृति साहित्यशास्त्र में गद्य लेखन को दो रूपों में बाँटा गया – कथा और आख्यायिका। कथा की निर्मिति कल्पना के सहारे होती है और आख्यायिका ऐतिहासिक चरित्रों पर लिखी जाती है। बाणभट्ट की दो रचनाओं से इनके उदाहरण दिए जाते रहे हैं – 'कादंबरी' कथा है और 'हर्ष चरित' आख्यायिका। बाणभट्ट सम्राट हर्षवर्द्धन (शासनकाल 606-647) के दरबार में थे। 'हर्ष चरित' में बाण ने सम्राट की जिंदगी को शब्दबद्ध करने के साथ स्ववृत्त भी लिखा है। शुरु के तीन अध्यायों में, भारत में आत्मकथा लेखन का यह पहला प्रयास मानना चाहिए। साहस का परिचय देते हुए बाण ने लिखा है कि उनके पिता की एक शुद्रा पत्नी भी थी जिनसे दो पुत्र हुए थे। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति की यह एक तस्वीर है। लेकिन, सच तो यह है कि संस्कृति के साथ अन्य भारतीय भाषाओं में भी लेखकों ने अपनी जिंदगी का सच सीधे-

सीधे लगभग नहीं लिखा है। जो सच हमें मिलता है वह एकांगी है। साहित्य को समाज का दर्पण भले ही कहा जाता रहा हो मगर इस दर्पण का आयतन इतना छोटा, इतना चयनधर्मी रहा कि उसमें दलित समाज कहीं दिखता ही नहीं।

nfyv vkRedFkk dh fo'ks'krk
l kekf t d & l k l Nfrd
i f j l F k f r ; k a d s n L r k o s t

जब दलित लेखकों ने आत्मकथन लिखने की शुरुआत की तो इस दर्पण का दायरा ही नहीं बढ़ा, साहित्य की प्रकृति, वाङ्मय-विमर्श का स्वभाव भी बदल गया। भूख, गरीबी और अछूतपन में डूबी जिंदगी जब सीधे तौर पर आत्मकथन के रूप में आई तो पारंपरिक साहित्य के अभ्यासी व पाठक हतप्रभ रह गए और आलोचक हक्के-बक्के। इस 'साहित्य' के प्रति उदासीनता, उपेक्षा और अस्वीकार का रवैया अपनाकर इसे दबाने की कोशिश भी की गई मगर शताब्दियों से बाहर आने को बेचैन सच को रोका न जा सका।

16-2-1 nfyv thou ds fofoek : i

दलित जातियों की संख्या कम नहीं है। इनकी उपजातियाँ तो अनगिनत हैं। उनकी जीवन-स्थितियों में एक स्तर पर समानता है तो दूसरे स्तर पर अत्यधिक भिन्नता भी है। जाति का ढाँचा ऐसा कि एक जाति दूसरी जाति से अजनबी बनी रहती है। 'उपरा' आत्मकथन के लेखक लक्ष्मण माने का कहना है, "हमारे समाज में एक जाति के दुखों का पता दूसरी जाति को नहीं होता। संवेदना का आदान-प्रदान भी यहाँ नहीं हुआ है। साढ़े तीन प्रतिशत लोगों द्वारा लिखे गए साहित्य में समाज के दुर्बल वर्ग का चित्रण ही नहीं हुआ है।" ('यादों के पंछी' में अनुवादक द्वारा लिखी भूमिका से उद्धृत)।

दलित लेखकों के शताधिक आत्मकथन पूर्ण या आंशिक रूप से अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं लेकिन कोई भी दो आत्मकथन एक जैसे नहीं हैं। ये आत्मकथन वस्तुतः एक-एक समुदाय की कहानी बयान करते हैं और इतने समुदायों की वास्तविकता सामने आने के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य में सभी दलित समुदायों का प्रतिनिधित्व हो चुका है। अभी कितने बहिष्कृत इलाके और कितने दलित समुदाय हैं जिनकी आवाज़ साहित्य में दर्ज ही नहीं हुई है।

बहरहाल जिन आत्मकथनों से दलितों के समुदाय-विशेष साहित्य जगत में प्रवेश पा सके हैं उनमें कुछ की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है :

- 1) महार समुदाय – 'तराल-अंतराल', 'यादों के पंछी', 'जीवन हमारा' और 'अछूत' आदि।
- 2) जाटव या चमार – 'मुक्काम पोस्ट – देवाचे गोहणे', 'अपने-अपने पिंजरे', 'झोपड़ी से राजभवन' आदि।
- 3) वाल्मीकि या भंगी – 'जूठन', 'तिरस्कृत', 'शिकंजे का दर्द', आदि
- 4) दबंगों की (दलित) रखैल से उत्पन्न संतान – 'अक्कर माशी',
- 5) विमुक्त जाति – 'पराया', 'उचक्का', 'बेडर' आदि।
- 6) कोल्हाटी (नाचने गाने वाला समुदाय) – 'छोरा कोल्हाटी का'
- 7) बंजारा – 'तांडा', 'डेरा डंगर',
- 8) मातंग जाति – काटयावरची पोट'
- 9) पोतराज – 'आभरान'
- 10) दलित ईसाई – 'ख्रिस्ती महार', 'करक्कु'
- 11) पंजाबी रामदसिया दलित – 'छांग्या रूक्ख'
- 12) दलित स्त्री – 'दोहरा अभिशाप', 'आयदान' 'शिकंजे का दर्द' आदि।

जाति आधारिक सामाजिक संरचना में जातियों की सांस्कृतिक हैसियत के अनुसार उनकी बसावट तय होती है। एक पारंपरिक गाँव में सवर्ण जातियाँ गाँव के बीचों-बीच, मध्यम जातियाँ थोड़ा बाहर की तरफ तथा दलित बस्ती गाँव के हाशिये पर प्रायः दक्षिण दिशा में हुआ करती हैं। दलित बस्ती की तरफ सामूहिक कब्रिस्तान, कूड़ा-कर्कट फेंकने की जगह-घूर और मृत पशुओं की खाल उतारने की जगह होती है। गैर-दलितों के घर प्रायः पक्के या खपरैल हुआ करते हैं जबकि दलितों की छोटी-छोटी झोपड़ियाँ। अपने गाँव (अकोला तालुका का घामण गाँव) का लोकेशन बताते हुए दया पवार ने 'अछूत' में लिखा है, "एक टीले पर महारवाड़ा। गाँव के निचले हिस्से पर। ऐसा कहते हैं कि हवा और नदी का पानी उच्च जातियों को शुद्ध मिले इसलिए गाँवों की रचना प्राचीन काल से इसी तरह की गई। सबके घरों के दरवाजे गाँव के विरुद्ध दिशा में।" (पृ. 32) 'माझी जन्माची चित्रकथा' में शांताकृष्ण कांबले लिखती हैं, "महारों के घर बहुत छोटे-छोटे थे इसलिए सभी सामूहिक दालान में एक साथ सोते थे।" (इस आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद 'नाज़' शीर्षक से छपा है। विस्तृत विवरण के लिए संदर्भ सूची देखें। यहाँ उद्धृत पंक्ति पृष्ठ 10 पर है।) अपने घर का वर्णन करते हुए शंकर राव खरात लिखते हैं, "घर के पिछवाड़े की भीत ऊँची थी और आगे की भीत एकदम छोटी, बौनी थी। हमारे माँ-बाप और बड़ी बहन से इस छोटी दीवाल की बगल में सीधे खड़ा नहीं हुआ जाता था। इस ओर के सारे काम झुककर ही करने पड़ते थे। हमारे घर की चौखट में किवाड़ों का दरवाजा नहीं था। कुत्ता-बिल्ली से बचाव के लिए अन्ना ने एक टटिया का ढक्कन बना लिया था।" ('तराल-अंतराल', पृ. 13)। प्र.ई. सोनकांबले ने दलित मुहल्ले को गाँव के मानचित्र में दर्शाते हुए कहा, "गाँव के अंतिम छोर पर दलितों की बस्तियाँ होती हैं। हडोलती भी इसका अपवाद नहीं था।पहले महारों की बस्ती उसके पीछे मातंगों की" ('यादों के पंछी', पृ. 34) बलबीर माधोपुरी अपने गाँव माधोपुर (जालंधर, पंजाब) की बसावट का वर्णन करते हुए बताते हैं: "गाँव देखने को हालाँकि इकट्ठा है, पर पीने के पानी के लिए कुआँ अपना-अपना है (छांग्या रूक्ख', पृ. 22)। माधोपुर गाँव बाद में बसा हुआ 'गैर-पारंपरिक' गाँव है लेकिन जातिगत पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं। पंजाब के बारे में आम धारणा यह रही है कि वह अपेक्षाकृत प्रगतिशील सूबा है लेकिन दलित लेखकों ने इसकी असलियत पर पुनर्विचार के लिए बाध्य किया। पंजाब के गाँवों में जातिवाद की व्याप्ति पर जगदीश चंद्र का उपन्यास 'धरती धन न अपना' भी देखा जा सकता है।

16-2-3 I keftd mRi hMu dh A—fr

जातिवादी सामाजिक संरचना ने उत्पीड़न के अनगिनत तरीके ईजाद किए हैं। साहित्य में पहले इन तरीकों की अभिव्यक्ति अत्यल्प रही है। सवर्ण नजरिये से देखा गया गाँव उत्पीड़न की मौजूदगी को स्वाभाविक रूप से नजर अंदाज करता रहा है। 'बाबा अब न बसब यहि गाँव' कहकर कबीर ने गाँव की जिस वास्तविकता का संकेत किया था, परवर्ती साहित्य में उस वास्तविकता के विवरण नहीं दिखे। आधुनिक काल में प्रेमचंद ने तथा दूसरे प्रगतिवादी कथाकारों ने गाँव में मौजूद उत्पीड़न के चित्र दिए। लेकिन ये चित्र सीधे अनुभव से प्राप्त नहीं थे। साहित्य के समूचे इतिहास में दलित आत्मकथनों ने दलित बस्ती का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किया। यह एक उल्लेखनीय परिघटना थी। मोटे तौर पर इसके पाँच परिणाम दिखाई पड़े :

- 1) साहित्य में दलित जीवनानुभवों का पहली बार दस्तावेजीकरण शुरू हुआ।
- 2) दलित बस्ती का कटु यथार्थ गाँव के पारंपरिक रोमानी बोध का तोड़ने में सक्षम हुआ।

- 3) साहित्य को नई भाषा, नए मुहावरे, नए वाक्य विन्यास मिले। नया यथार्थ पुरानी शब्दावली में व्यक्त नहीं हो सकता था।
- 4) अनुभवाधारित लेखन को जाँचने के लिए नए प्रतिमानों की ज़रूरत महसूस की जाने लगी। नए सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की संभावना बननी शुरू हुई।
- 5) साहित्य और समाज के बीच की दूरी क्रमशः मिटने लगी। साहित्य बदलते समाज का आइना बना और साथ ही उसने समाज को बदलने में अपनी भूमिका का नया दौर आरंभ किया।

भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य के विकासक्रम को सहूलियत के लिए पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है – वेदना, नकार, विद्रोह, विश्लेषण और विज़न। पहले चरण में दलित समाज की वेदना का चित्रण हुआ और उस वेदना को जन्म देने वाली परिस्थिति विशेषकर उत्पीड़न की। दूसरे दौर में दुःखदायी व्यवस्था को नकारा गया। इसके बाद इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का स्वर बुलंद हुआ। अगले चरण में यह चिंतन प्रमुख हुआ कि हमारी स्थिति ऐसी हुई क्यों। इस क्यों का विश्लेषण करते हुए पाँचवें और वर्तमान दौर में विज़न निर्माण पर विशेष बल दिया जाने लगा है। भविष्य का समाज कैसा हो, यह इस वक्त प्रतिरोधी दलित साहित्य के लिए केन्द्रीय प्रश्न है। दलित आत्मकथनों ने शुरू के तीन चरणों में अपनी विशेष भूमिका निभाई। अंतिम दो चरणों में अन्य विधाओं – कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना और चिंतनपरक गद्य की भूमिका ज़्यादा महत्वपूर्ण हो गई है।

उत्पीड़न के स्वरूप की बात करें तो दलित आत्मकथनों में भौतिक, मानसिक और मिश्रित तीनों तरह के उत्पीड़न दर्ज हैं। दलित बस्ती पर हमला, पिटाई, आगजनी, आर्थिक दण्ड आदि भौतिक या शारीरिक उत्पीड़न हैं और तिरस्कार, अपमान, दुर्वचन मानसिक संत्रास देता है। स्त्रियों का बलात्कार शोषण देह और मन दोनों को घायल करता है। दलितों को जूते पहनने पर प्रतिबंध, नए कपड़े पहनने पर रोक, बसीठों के पास से गुजरने पर चारपाई से उठ जाने की मजबूरी, विवाह-शादी में घोड़ी पर बैठने पर पाबंदी जैसे मानसिक उत्पीड़न के अनगिनत प्रसंग इन आत्मकथनों में दर्ज हैं। 'छाया रूख' का एक उदाहरण देखें: "अगर अछूतों का कोई लड़का नहा-धोकर और बाल संवार कर घर से बाहर निकलता तो दरख्त के नीचे या चबूतरे पर बैठी जट्टों की ढाणी में से कोई एक उठकर उसके सिर में मिट्टी डाल देता। अगर वह विरोध करता तो उसकी धुनाई की जाती। इसी तरह अछूत जाति के किसी आदमी द्वारा नए कपड़े पहनकर निकलने पर उसे मारा-पीटा जाता कि तुम लोग हमारी नकल या बराबरी करते हो" (पृ. 22)। माता-पिता ने अपने बच्चों के नाम कितने ही प्यार से क्यों न रखे हों, सवर्ण जाति के लोग उसे बिगाड़कर ही बोलते रहे हैं। उदाहरण के लिए देखें 'तिरस्कृत' का यह प्रसंग: – "मेरे भूपसिंह चाचा को 'भोपा', स्वरूप सिंह ताऊ को 'सरूपा', मेरी चाची राधा देवी को 'रधिया' और किरन को 'किन्नो'। और तो और मेरे पिता रोहनलाल को 'रोना' कहकर पुकारना।" (पृ. 38) 'माज्या जन्माची चित्तर कथा' में एक प्रसंग है महार शादी के बाद दुल्हन को बैलगाड़ी पर बैठाकर ला रहे हैं। रास्ते में बलबड़ी गाँव के पाटिल ने गाड़ी रोक दी। बातचीत के लिए उस गाँव का एक महार व्यक्ति आनंद आया तो पाटिल बोला, "महार अब ज़्यादा ही सिर चढ़ गए हैं। यहाँ से जाते हुए हमें प्रणाम नहीं किया इसलिए गाड़ी रोक दी।" (पृ. 34-35)। 'तराल-अंतराल' में जब महारों ने मरे जानवर का माँस न खाने और उन्हें अपने कंधे पर न लादने का फैसला किया तो पूरे गाँव में खलबली मच गई। दलितों का बहिष्कार कर दिया गया। शंकरराव खरात लिखते हैं "गाँव ने महारों के लिए दुकानें बंद कर दीं। उन्हें नमक तेल आदि खरीदने के अधिकार से अलग कर दिया। गाँव के चरागाह से उनके पशु-ढोर हकाल दिये; उन्हें रोज़गार, मेहनत-मजदूरी

का काम देना बंद कर दिया। अब वे कैसे जियें?" (पृ. 234)। शंकरराव खरात बड़ा मार्मिक प्रश्न पूछते हैं: "कोई भी आदमी अपनी गुलामी से मुक्ति चाहता हो तो इसमें क्या पाप है?" (पृ. 233)।

दलित समुदाय को निरंतर आतंक के साये में रहना पड़ता है। दबंगों को हमले का बहानाभट चाहिए। वे 'सबक सिखाने' के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। ऐसी एक घटना 'अक्करमाशी' में दर्ज है : "किसी दलित युवक ने सवर्ण स्त्री की ओर तिरछी नज़र से देखा था। उस स्त्री ने घर जाकर यह कह दिया। सवर्ण स्त्री की ओर आँख उठाकर देखने की हिम्मत दलित करें! पूरा गाँव इकट्ठा हुआ। बस्ती पर धावा बोल दिया गया। उस युवक को खींच बाहर लाया गया। बेतहाशा पीटा गया। कुछ ही दिनों बाद बस्ती के सभी दलित युवकों पर झूठे अदालती केस किए गए। अंततः उन युवकों को एक-एक साल की सजा हुई। सजा भुगतकर वे अपने गाँव आए तो उनमें से प्रत्येक की पत्नी को एक-एक संतति हो चुकी थी।" (पृ. 120) उत्पीड़न का ऐसा सिलसिला सिर्फ महाराष्ट्र में ही नहीं पूरे देश में है। 'छांग्या रुक्ख' के लेखक ने अपने बापू और पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक दलित के बीच हुई बातचीत आत्मकथन में नोट की है। इसका एक अंश देखें: "पलभर की खामोशी के बाद बापू ने फिर बात शुरू की, "यार, कभी-कभी तो मैं सोचता हूँ कि इस मुल्क में हमारा है क्या? ... तू और सुन, तीसरे दिन जरीब-झंडियाँ उठाये पमेश (पैमाइश) के लिए आ जाते हैं और हमारे आँगन के बीच निशान लगाकर कहते हैं कि चमारों के सारे घर हमारी छोड़ी हुई शामिलान में हैं।"

"तुम लोग जमीन के टुकड़े की बात करते हो, मुझे तो लगता है जैसे हम गरीबों की बहू-बेटियाँ उनकी शामिलान हों" भइये ने बापू की बात बीच में काटते हुए जैसे किसी रहस्य की ओर संकेत किया।" (पृ. 88)

उत्पीड़न के ऐसे प्रसंगों से दलित आत्मकथन भरे पड़े हैं। इन उत्पीड़नों का सिलसिला दूर तक जाता है। कहने को तो ये लेखक/लेखिका के व्यक्तिगत या पारिवारिक अनुभव हैं लेकिन असल में ये पूरे समाज का सच बयान करते हैं। उस सच का जिसका अतीत शताब्दियों तक फैला है और जनतंत्र के बावजूद जिसका वर्तमान व भविष्य फिलहाल महफूज़ नहीं लगता है।

16-3 èkkfebd i fjLFkfr

भारतीय समाज धर्म केन्द्रित रहा है। इस धर्मसत्ता का राजसत्ता और अर्थसत्ता से गहरा संबंध है। सामाजिक पदानुक्रम में दलितों की स्थिति का निर्धारण ब्राह्मणवादी धर्म की ही देन है। दलित आत्मकथनों में मोटे तौर पर धर्म से संबंधित निम्न प्रसंग मिलते हैं:

- 1) दलितों की अपनी धार्मिक मान्यताओं, प्रथाओं के स्थानीय रूप।
- 2) वर्णवादी धर्म में दलितों का विश्वास।
- 3) दलित समुदाय में मौजूद अंधविश्वास एवं धार्मिक कुरीतियाँ।
- 4) सवर्णों के धर्म-प्रतिष्ठान और दलित।
- 5) बौद्ध मत का स्वीकार : आत्मसम्मान एवं अस्मिता की अभिव्यक्ति।

16-3-1 èkkfebd fo'okl ds LFkkuh; : i

ऊपरी तौर पर दलित हिंदू धर्म के भीतर दिखते हैं मगर उनकी अपनी स्वायत्त धार्मिक प्रथाएँ एवं विश्वास हैं। तमाम इलाकों के भिन्न-भिन्न दलित समुदायों के स्थानीय देवी-

देवता अलग-अलग हैं। इन देवी-देवताओं का स्वरूप दलित समुदाय की स्थिति के अनुरूप ही है। मनौती मानने, देवी या देवता को प्रसन्न करने की विधियाँ दलितों की आर्थिक हालत के अनुसार परिकल्पित एवं विकसित हुई हैं। यही बात “देवस्थान” पर भी लागू होती है। पारंपरिक रूप से ये देवस्थान अगर घर से बाहर हुए तो अत्यंत सामान्य आकार-प्रकार के मिट्टी के ढूह या बगैर तराशे पत्थरों के रूप में हुआ करते थे और अगर घर के भीतर देवताओं को जगह दी गई तो उन्हीं वस्तुओं के साथ जिनका रोजमर्रा इस्तेमाल हुआ करता है। सवर्ण घरों में जिस तरह के ‘पूजा स्थान’ हुआ करते हैं वैसा इनमें नहीं होता। ‘पवित्रता’ का वैसा बोध भी नहीं। ‘तराल-अंतराल’ में शंकरराव खरात अपने घर के पूजा के आले का वर्णन इस तरह करते हैं : “डला (बड़ा टोकरा) के पीछे दीवार में एक बड़ा आला था जिसमें बाप-दादाओं के देवी-देवता रखे हुए थे। वह ‘देव आला’ ही था। उन देवताओं में एक ‘लक्ष्मी माता’ थीं। एक ‘मरिआई माँ’ थी। कभी-कभी तीज-त्यौहार के दिन मैं नहा-धोकर उन देवी-देवताओं को परात में निकाल कर, झरने से लाए हुए पानी से स्नान कराता था। माँ हर मंगलवार और शुक्रवार के दिन नहा-धोकर उनकी पूजा करती थी। परन्तु मैंने अन्ना को कभी भी इन देवी-देवताओं से किसी प्रकार का संबंध रखते हुए नहीं देखा ..” (पृ. 15)।

दलितों के अलग धार्मिक-सामाजिक विश्वास होते हैं इसकी चर्चा ‘अक्करमाशी’ में हुई है। इन विश्वासों में से एक है अपनी संतान को देवता के नाम पर दे देना। लड़की हुई तो देवदासी और लड़का हुआ तो पोतराज। शरणकुमार लिंबाले ने लिखा है: “ईश्वर को संतति समर्पित करने की परंपरा केवल पिछड़ी (दलित) जातियों में ही है। अंबा बाई, यल्लाम्मा, लक्ष्मी, खंडोबा – ये महार मातंगों के आराध्य देवता। मसोबा, मरीआई, खोकल्या आई, सरबाई-नामों की सूची बढ़ाई जा सकती है। .. खंडोबा पर भी बेटे-बेटियाँ छोड़ने का इधर रिवाज है। बेटे को ‘वाध्या’ तथा बेटे को ‘मुरली’ कहा जाता है। यल्लाम्मा के ‘जोगत्या’ और ‘जोगती’ होते हैं। मैंने कभी ब्राह्मण पोतराज या लिंगायत वाध्या को देखा नहीं है। दलितों में ही ये रूढ़ियाँ क्यों?” (पृ. 145-46)।

इन रूढ़ियों-प्रथाओं की चर्चा प्रायः सभी मराठी दलित आत्मकथनों में है। शांता कृष्ण कांबले ने मसाई देवी यात्रा के प्रसंग में पोतराज का वर्णन किया है : “महार बस्ती की सभी औरतों ने अपने घरों को लीप-पोतकर साफ-सुथरा बनाया था। वे सब नहा धोकर साड़ियाँ पहने हुई थीं। पोतराज ने रंग बिरंगे कपड़ों से बना घाघरा पहन रखा था और माथे पर कुंकुम लगाया था।पोतराज ने आरती गाई। आठ खुरों वाली भेड़ यानी गर्भिणी भेड़ को काटा गया और उसके पेट में से निकले बच्चे को भगवान के सामने जमीन में गाड़ दिया गया।” (पृ. 31) ‘छांग्या रूक्ख’ में ‘सिद्ध चानो’ नामक एक (दलित) देवता का जिक्र हुआ है: “साल की शुरुआत हमारे घर की पिछली कच्ची दीवार के साथ मिट्टी के एक छोटे से लिपे-पुते चबूतरे पर बाबा सिधार्मिचानों के नाम पर कुछ लोक-मंतर पढ़ने के साथ हुआ करती। ... बाबा सिद्ध चानों या बाबा सिद्ध वाला चमारों का एक प्रसिद्ध शक्तिशाली देवता और पशुओं का रखवाला माना जाता है।” (पृ. 149) कथा है कि एक बार सिद्ध चानो और भगवान कृष्ण के बीच टक्कर हुई। अठारह दिन तक ‘अखाड़ा’ लगा रहा। कृष्ण सिद्ध चानो से जीत न सके। आखिर में उन्होंने धोखेबाजी से सिद्ध चानों को मात दी। आज भी ‘बाबा सिद्ध चानो और भगवान कृष्ण का अखाड़ा लगता है।’ (पृ. 149) दया पवार ने महारों में भादवा पूजा का उल्लेख किया है। कथा इस प्रकार है कि भादों (भाद्रपद) का महीना महारों के लिए मुश्किल भरा होता है। खाने-पीने की बड़ी किल्लत इस महीने में रहती है। कभी इस महीने में गाँव के पटेल का बैल एक महार ने मारा। महार बस्ती में चूल्हा जला। पटेल को महारों पर शक हुआ। वे सब जाँच करने पहुँचे। पकड़े जाने पर दुर्गति होगी ऐसा सोचकर

महारों ने भादवा से विनती की। “तुम्हें कभी नहीं भूलेंगे” का वचन दिया। फिर क्या था, सभी गाँव वालों को देगची में आटे की सफेद-शुभ्र लोई दिखी। भादवा ने सबको संकट से बचाया इसलिए भादवा की पूजा आज भी चली आ रही है। (पृ. 67)

16-3-2 o.kbknh ekkfeJdrk dk ; FkkFk

जाति आधारित भेदभाव और उत्पीड़न को वैधता देने का काम हिन्दू धर्मशास्त्रियों ने किया। डॉ. आंबेडकर के लेखन का बड़ा हिस्सा इसलिए इन धर्मग्रंथों के विश्लेषण और खंडन में लगा। दलित आत्मकथनों में धर्मशास्त्रों के संदर्भ नहीं मिलते लेकिन उस मानसिकता के लोगों के प्रसंग कई बार आते हैं। वर्णवादी धर्म की सत्ता क्योंकि बहुत लंबे समय से भारतीय धर्म पर काबिज रही है इसलिए तमाम अपमानों, दुत्कारों के बाद भी उसके प्रति दलितों का आकर्षण बना रहा है। दलित बेशक देवस्थल, देवमूर्ति, देव ग्रंथ, देव पुरुष को स्पर्श नहीं कर सकते थे लेकिन ऐसा करने की इच्छा तो उनके भीतर मौजूद रही है। यह अस्वाभाविक भी नहीं था। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कर्मफल आदि का जो सिद्धांत रचा गया था, उसका यही ‘सुफल’ मिलना था। इस सिद्धांत की शर्तों पर जो जितना धार्मिक वह आगत के प्रति उतना आश्वस्त/इज्जत का हकदार भी। ‘यादों के पंछी’ का लेखक अपने आकर्षण को इन शब्दों में रखता है: “गाँव में रात को सवर्ण लोग मंदिर में भजन आदि गाने बैठते तो मैं भी मंदिर से दूर बैठकर भजन सुनता। अक्सर नाली के पास बैठता। भजन सुनता, भजन गाता भी। इतना ही आनंद था। लोग मेरी भक्ति देखकर कभी गुलाल, कभी नारियल का टुकड़ा तो कभी गुड़ मेरी ओर फेंक देते” (पृ. 74)।

‘नाज़ा’ में भी एक ऐसा ही प्रसंग है। लेखिका बिठोवा दर्शन के लिए पंढरपुर गई है। वह चोखा मेला (मध्ययुगीन दलित संत) पर फूल चढ़ाने के बाद बिठोवा मंदिर जाना चाहती है। माँ समझाती है, “महार को वहीं मंदिर में नहीं जाने दे तो” मैं बोली – “हमें बिठोवा का दर्शन क्यों नहीं करने देते। फिर हम लोग यहाँ किसलिए आये हैं?” माँ ने कहा – हम लोग दूर से ही दर्शन कर लेते हैं इसलिए हम लोग बिठोवा का दर्शन कर चुके हैं।” (पृ. 21)। ब्राह्मणों की नकल करने वाला एक पात्र ‘तराल-अंतराल’ में है। गेनूबुवा नामक यह व्यक्ति ‘तराल’ है। ‘तराल’ का मतलब है गाँव की चौकीदारी करने वाला। ‘तरालकी’, सिर्फ महार जाति के व्यक्ति को ही मिल सकती थी। गेनूबुवा के “गले में पंढरपुर की माला हमेशा लटकी रहती। उसका रहन-सहन भी ब्राह्मणों की तरह ही था धोती भी ब्राह्मणों की तरह पहनता। ऊपर की बगल बंदी ब्राह्मणों की तरह ही थी” (पृ. 112)। ब्राह्मणों की नकल करते-करते उसके दिमाग का भी ब्राह्मणीकरण हो गया था। पाठशाला में पढ़ने वाले शंकरराव से वह लाश उठाने को कहता है। मना किए जाने पर उसकी प्रतिक्रिया है: “हत् तेरी, गधइया के! बाप कहूं आन गाँव चलौ गयो ऐ। बेटा कलट्टर बनिवे जायगौ इस्कूल में। अब महारन के छोरा थानेदार-तैसीलदार बनिंगे भैनचोद।” (पृ. 113)। गेनूबुवा जैसे पात्र अन्य आत्मकथनों में भी मिल सकते हैं लेकिन कथा-साहित्य (कहानी/उपन्यास) में ऐसे पात्रों को बखूबी पेश किया गया है।

16-3-3 Økfrdkjh uo tkxfr % ckS) er dh vksj

दलित हिंदू धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं, ऐसा कहना नासमझी है। उनके सामने जब-जब विकल्प आए हैं उन्होंने इस धर्म में अपनी पददलित स्थिति से अंतरण करने की कोशिश की है। मध्ययुग में इस्लाम के आगमन के बाद धर्मांतरण हुए हैं और आधुनिक काल में ईसाइयों के आने पर दलितों ने यह धर्म स्वीकारा है। डॉ. आंबेडकर ने 1935 में घोषणा की थी कि उनका वंश जन्म पर नहीं था लेकिन वे हिन्दू के रूप में नहीं मरेंगे।

अपनी इस घोषणा के अनुसार उन्होंने 14 अगस्त 1956 को नागपुर में बौद्ध धम्म की दीक्षा ली। यह दलितों के सांस्कृतिक जीवन की बहुत बड़ी परिघटना थी। पूरे भारत का विशेषकर महाराष्ट्र का दलित समुदाय इस परिघटना से गहरे में प्रभावित हुआ। यह ऐसा वक्त था जब दलितों में मानसिक परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत बुनियादी रूप में और तेज गति से आगे बढ़ रही थी। इस प्रक्रिया का विस्तृत, अंतरंग और प्रामाणिक ब्यौरा दलित आत्मकथनों में उपलब्ध है। नाम लेना हो तो 'तराल-अंतराल', 'अछूत', 'जीवन हमारा', 'नाजा', और 'यादों के पंछी' का उल्लेख किया जा सकता है। बाबासाहेब के भाषणों ने उनके द्वारा तैयार किए गए कार्यक्रमों ने और उनके द्वारा शुरू हुए आंदोलनों ने सांस्कृतिक परिवर्तन का मानस व परिवेश तैयार किया। शांताकृष्ण कांबले ने बाबासाहेब के अभियानों का, उनके संदेशों का सार-संक्षेप में इन शब्दों में पेश किया है: 'मरे हुए जानवरों के मांस मत खाओ। गाँव में कोई मर गया हो तो उसकी चिता मत सजाओ। दूसरे गाँव में भी इस काम के लिए मत जाओ। महार लोग गाँव के काम न करें। .. दलितों, जागो! गंदे काम मत करो। लड़कियों को स्कूल भेजो। अशिक्षित मत रहो!' (पृ. 77) बेबी कांबले ने लिखा है: 'आंबेडकर ने बौद्ध धम्म इसलिए चुना क्योंकि बौद्ध धम्म चरित्र का निर्माण करता है। आंबेडकर ने बौद्ध धम्म से ही हमें सत्य और विवेक का रास्ता बताया। हमारी पीढ़ियाँ मंदिरों की चौखटों पर अपना सर पटकती रहीं, देवताओं को अपना दुख सुनाती रहीं लेकिन वह विश्वकर्ता भगवान आँख होकर भी हम लोगों के लिए अंधा बना रहा। हम विवेकहीन - बुद्धि-हीन गुलाम बने रहे फिर हमारे भीतर चेतना फूँकी डॉ. आंबेडकर ने। 'जीवन हमारा' (पृ. 31)। परिवर्तन आसान नहीं था। परिवर्तन के विरुद्ध भीतरी और बाहरी दोनों मोर्चों पर संघर्ष चल रहा था। बेबी कांबले ने सवर्णों की प्रतिक्रियाएँ दर्ज की हैं, "अरे वो आंबेडकर जरा पढ़ क्या गया है, इन लोगों को बहुत घमण्ड हो गया है।" (वहीं, पृ. 121) दलितों ने मरे जानवर खाना, खाल निकालना, महार की करना ही नहीं छोड़ा, हिन्दुओं के तीज-त्यौहार मनाने भी बंद कर दिए। "फलटण के लोगों ने तय किया कि गुड़ी पाडवा (मराठी वर्ष का नया दिन) नहीं मनाया जायेगा। दरवाजे पर गुड़ी नहीं लगायी जायेगी।" (वहीं पृ.123) शंकरराव खरात लिखते हैं कि डॉ. आंबेडकर के प्रभाव के चलते म्हैसोबा (स्थानीय देवता) की जात्रा बंद हुई। "धर्मान्तर आंदोलन की हवा में हमारे गाँव की भजन मंडली बंद हो गई। लेकिन इस मंडली ने आगे चलकर कुछ अन्य सामाजिक जलसे शुरू कर दिए।" ('तराल-अंतराल', पृ. 221)। इसी तरह 'तमाशा' इकतारे पर गायन 'महाभारत ग्रंथ वाचन', मरिआई माता की सालाना जन्ना (मेला) भी बंद हुए (वहीं, पृ. 219-223)। "हमारी बस्ती में हर साल "महारों का गुरु" भी आता था। . वह किशोरावस्था वाले लड़कों के 'कान फूँकता'।... उसका कीर्तन सुनने के लिए सारी महारबस्ती चौपाल में इकट्ठी हो जाती। लेकिन इन कुछेक सालों में, वे "गुरुजी" भी कभी दिखाई नहीं दिये। यह भी धर्मांतर आंदोलन का ही परिणाम था।" (वहीं, पृ. 222-223) प्र.ई. सोनकांबले ने मिलिंह कॉलेज के छात्रों में इस आंदोलन के परिणामस्वरूप आए चेतनागत बदलावों का संकेत किया है। (देखें 'यादों के पंछी' पृ. 130-135) शंकरराव खरात धर्मांतर आंदोलन के कारण दलितों के सामुदायिक जीवन पर पड़े प्रभाव के एक और महत्वपूर्ण आयाम की चर्चा की है, "धर्मांतर आंदोलन के कारण महार बस्ती से मनोरंजन और सांस्कृतिक कार्यक्रम बंद हो गए थे। महारवाड़ी के सांस्कृतिक जीवन में बहुत बड़ा खालीपन भर गया था।" ('तराल-अंतराल', पृ. 222) आंबेडकरी जलसों ने किस हद तक इस खालीपन को भरा यह गंभीर विचार का विषय है। शंकरराव खरात ने डॉ. आंबेडकर के जिस मूल्यवान कथन से अपनी रचना का समापन किया है उसे इस प्रसंग में देख लेना उचित लग रहा है", क्रांतिचक्र आधा ही घूमा है, उसका वृत्त पूरा हुए बिना सच्ची क्रांति नहीं हो सकती।" (वहीं, पृ. 286-87)

16-4 'k{k d i f j l F k f r

दलितों के जो आत्मकथन उपलब्ध हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि इसके लेखक या लेखिका अपने परिवार, जाति, समुदाय के औपचारिक शिक्षा ग्रहण करने वाले प्रायः पहले व्यक्ति रहे हैं। शिक्षा का महत्व इसलिए उनसे अधिक और कौन जान सकता है। इन आत्मकथनों में शैक्षिक परिदृश्य के संबंध में जो सूचनाएँ दर्ज हैं उन्हें निम्न बिन्दुओं में रखा जा सकता है:

- क) घनघोर अशिक्षा का माहौल।
- ख) औपचारिक शिक्षा प्राप्ति से सम्बद्ध भ्रांतियाँ
- ग) बदलते राजनीतिक-सांस्कृतिक संदर्भों में शिक्षा के प्रति रुझान।
- घ) प्राइमरी स्कूलों का जातिवादी माहौल।
- ङ) उच्च शिक्षा संस्थानों की हकीकत,
- च) डॉ. आंबेडकर की प्रेरणा और शिक्षा के ज़रिए आत्मसम्मान व रोज़गार हासिल करने की ज़िद।

16-4-1 KkuktŁ ds i kjä fj d : i

यह बात समझने की है कि दलित समुदाय भले ही औपचारिक शिक्षा से, शास्त्र-ज्ञान से दूर रखा गया हो लेकिन वह अकुशल या अज्ञानी कभी नहीं रहा। उसके पास वह कौशल और दक्षता रही है जिसे हासिल करने के लिए आज विशेष व दीर्घकालीन प्रशिक्षण की ज़रूरत पड़ती है। चमड़े के जूते-चप्पल बनाने का, मिट्टी के बर्तन बनाने का, बाल काटने, कपड़ा बुनने-रंगने का, लोहे का, लकड़ी का काम हो या स्थापत्य, चित्रकला, मूर्ति निर्माण का। इन सभी कामों के जानकार दलित समुदाय के लोग होते रहे हैं।

कार्यकुशलता और श्रम दोनों में दलित समाज अग्रणी रहा है। ऐसे समाज को अज्ञानी कहना नासमझी होगा। मनुष्यता का तकाज़ा तो यही था कि उत्पादन और श्रम से जुड़े लोग विशेष प्रतिष्ठा के हकदार होते लेकिन ब्राह्मणवाद ने उल्टी धारा बहा दी। उसने दलितों के कौशल, ज्ञान और श्रम का भरपूर दोहन किया और बदले में उन्हें हीन दर्जा दिया – निरंतर अपमान, अवहेलना तथा शोषण। 'ज्ञान' के स्थान पर चेतना को प्राथमिक मानने की ज़रूरत इसलिए महसूस हुई हम दलित आत्मकथनों में शिक्षा प्राप्ति की जो ललक पाते हैं वह वास्तव में नई चेतना से जुड़ने की ललक के साथ है। दलित लेखन और आंदोलन में इसे ही आंबेडकरी चेतना कहा जाता है। यह अधिकार-चेतना है – आत्मसम्मान और खुदमुख्तारी लिए हुए।

16-4-2 f'k{k k v k j nfyr % # d k o V k a l s V d j k r h u b l Ä t k i

शिक्षा हासिल करना दलितों के लिए बेहद मुश्किल था। बाधाएँ परंपरागत थीं और नयी भी। मुश्किलें बाहर से थीं और भीतर से भी। दो जून की रोटी भी ठीक से नहीं मिल पा रही तो संतान को स्कूल भेजने की बात कोई दलित परिवार कैसे सोच सकता था। शिक्षा को लेकर अंध विश्वास भी था। 'उचक्का' में एक ऐसा प्रसंग है। लक्ष्मण ने जब स्कूल जाना शुरू किया इत्तेफ़ाक से उसी समय बिरादरी के कुछ बच्चों को उल्टी-दस्त लग गई। लोगों ने लेखक के पिता को घेरा, "तूने अपने लड़के लक्ष्या को स्कूल में भरती कर दिया है, इसी कारण हमारे बच्चों को उलटियाँ और टट्टी हो रही हैं। हम लोग

बामन लाला तो हैं नहीं कि लड़कों से पढ़ाई करवायें। हमारी बिरादरी में आज तक क्या कोई स्कूल गया है?" (पृ. 19) उधर स्कूल में लक्ष्मण की क्या स्थिति थी?" कक्षा के सभी लड़के मुझे कंकड़ों से मारते; कहते, उठाईगीरों का लक्ष्या स्कूल में कैसे? कुछ लड़के चिल्लाते, अरे यह तो केकड़े खाने वाला है।" (वहीं, पृ. 18-19) स्कूल जाते दलित बच्चों के अनुभव कमोबेश ऐसे ही हैं। प्र.ई. सोनकांबले ने अपने अनुभवों का निचोड़ इन शब्दों में व्यक्त किया है: "अछूत छात्रों की तो कक्षा में कोई कीमत ही नहीं होती थी।" ('यादों के पंछी', पृ. 171) सोनकांबले के माँ-बाप नहीं थे। वे बहन के घर पर रहकर पढ़ाई कर रहे थे। बहन की हालत भी अच्छी नहीं। वह कहती, "कल से स्कूल मत जाना। स्कूल छोड़ दो। मजदूरी करो।" कई बार वह रोटी भी नहीं देती थी। (वहीं, पृ. 40) और इस पढ़ाई पर सवर्ण समाज की क्या प्रतिक्रिया थी: "बहुत पढ़ गया भाई ये। ज़रूर बड़ा आदमी बनेगा मादरचोद!" "बहुत ज्ञानी है स्साला! अब तो अछूतों का राज आ गया है।" (वहीं, पृ. 74-75) शरण कुमार लिंबाले स्कूली जीवन के शुरुआती अनुभव को इस तरह पेश करते हैं: "पेशाब की छुट्टी हुई कि बच्चे छेड़ते, कंकड़ मारते, 'महार-महार' कहकर चिल्लाते, मैं बेहद परेशान हो जाता।" ('अक्करमाशी', पृ. 42) बलबीर माधोपुरी द्वारा सुनी-सही सवर्ण कुण्ठा इन शब्दों में दर्ज है: "सारा चमार टोला पढ़ने बैठ गया। दिन-ब-दिन इनका दिमाग खराब हुए जाता है। अगर इन्हें नौकरियाँ मिल गई तो हमारे खेतों में काम कौन करेगा?" ('छांग्या रूक्ख' पृ. 171) ओमप्रकाश वाल्मीकि प्राइमरी स्कूल का अनुभव बताते हुए लिखते हैं कि उन्हें स्कूल के मैदान में झाड़ू लगाने का आदेश मिला। धूल से चेहरा सिर भर उठा। पानी तक पीने की इजाजत नहीं। यह ड्यूटी दो दिन बजाने के बाद जब वे तीसरे दिन कक्षा में गए तो हेडमास्टर का संबोधन था, "अबे, ओ चूहड़े के, कहीं घुस गया अपनी माँ....." ('जूठन') शंकरराव खरात स्कूल में अपने पहले दिन का वाक्या बताते हैं कि वे अनजाने में उस पंक्ति में बैठ गए जिसमें 'ब्राह्मण बनियों' के लड़के बैठे थे। "मुझे देखते ही उन लड़कों के कान खड़े हो गये। अचानक उनमें ऐसी भगदड़ पड़ गई मानो सांप-बिच्छू निकल आया हो।" ('तराल-अंतराल', पृ. 48) सब ओर से गालियाँ ही गालियाँ "ऐ भोसड़ी के। तू हमें छूना मत, नई तो देख..।" एक ब्राह्मण लड़के ने स्लेट मार दी। माथे पर गूमड़ निकल आया। शिकायत मास्टर से की गई। ब्राह्मण बालकों ने उल्टे शंकर को दोषी ठहराया। शंकर ने सफाई दी कि इन्हें छूने का कोई इरादा नहीं था उनका। लेकिन मास्टर कहा मानने वाला था। हाथ में छड़ी लेकर बरस पड़ा, "क्यों रे महारडया। किस नशे में है तू? आज पहले दिन ही स्कूल में आया है और ये छूतछात करने लगा है। डेड़ कहीं के। यहाँ पाठशाला है कि महार बस्ती?" (वहीं, पृ. 50)

इतनी विकट परिस्थितियों के बावजूद अगर दलित समुदाय के लोग अपने बच्चों को पढ़ा रहे थे तो यह उनका दुस्साहस ही था। इसकी ऊर्जा उन्हें डॉ. आंबेडकर द्वारा चलाए जा रहे सामाजिक आंदोलन से मिल रही थी। इसका विस्तृत ब्यौरा 'तराल-अंतराल' में मिलता है। (देखें पृ. 94-101 तथा पृ. 136-147)

16-5 jktuhfrd i fjfLFkfr

दलित आत्मकथनों में राजनीतिक संदर्भ अपेक्षाकृत कम ही मिलते हैं। लगभग सभी आत्मकथन भारत की राजनीतिक आजादी के कुछ बरस पहले और कुछ दशक बाद के समय पर आधारित हैं। यह बेहद राजनीतिक गहमागहमी का समय है। इस गहमागहमी में दलित लेखकों ने कम ही रुचि दिखाई है। लेकिन इन आत्मकथनों में राजनीतिक चेतना न हो, ऐसा नहीं है। दलित लेखकों की रुचि और चिंता राजनीतिक आजादी से ज्यादा सामाजिक गुलामी से मुक्ति में है। वे गांधी-नेहरू केन्द्रित राजनीति के बजाय

आंबेडकर द्वारा चलाए जा रहे आंदोलन से जुड़े। पहली पीढ़ी के आत्मकथन दलित लेखकों मसलन शंकरराव खरात, दया पवार, और बेबी कांबले ने डॉ. आंबेडकर द्वारा चलाए जा रहे सामाजिक-राजनीतिक चेतना वाले आंदोलनों के विस्तृत ब्यौरे दिए हैं। 'तराल-अंतराल' महारवाड़ा की बदलती चेतना का अनूठा साक्ष्य है। दलितों की चेतना में बदलाव की अनिवार्य शर्तें थीं कि उन्हें धर्म की, ईश्वरवाद की दासता से छुटकारा दिलाया जाए, आत्मसम्मान का भाव भरा जाए, संगठित किया जाए, शिक्षा के प्रति उन्मुख किया जाए, कठोर संघर्ष के लिए, आन्दोलन के लिए तैयार किया जाए। डॉ. आंबेडकर ने यही किया। उनके द्वारा प्रकाशित 'जनता' पत्रिका का वाचन महारवाड़ा की चौपाल में होता था। इसका असर विद्युत-स्पर्श की तरह था। राजनीतिक चेतना की जमीन इस तरह तैयार हो रही थी। यह काँग्रेस चालित राजनीतिक चेतना से भिन्न थी जहाँ सामाजिक प्रश्नों पर विचार की गुंजाइश ज़्यादा नहीं थी। अपने आत्मकथन में शंकरराव खरात ने उस आसमंजस का, अंतर्विरोध का जिक्र किया है जो नई चेतना के फलस्वरूप महारवाड़ा में उभर रहा था। नई पीढ़ी के अधिकांश युवक डॉ. आंबेडकर के विचारों के साथ थे तो पुरानी पीढ़ी 'संस्कारों' से मुक्त नहीं हो पा रही थी। शंकर के गाँव का एक पोतराज था – मरीमाई माता का। 'मरिबा' नाम था उसका। उसने "डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की जय" बोलते हुए अपने बाल कटवा डाले। "लोगों में भय की लहर दौड़ गई। दैवी का प्रकोप। पता नहीं कौन-सा अनिष्ट हो!" इस तरह की शंकाओं से महाखाड़ी लोगों का मन भयभीत हो उठा। कुछ लोगों ने देवी की जात की – मनौती मानी। जिस लड़के ने मरिबा के बाल काटे उसे देवी को दस बार दूध से स्नान कराना पड़ा। लोगों ने देवी को हरी चूड़ियाँ और वस्त्र अर्पण किए। महारवाड़ी में एक तरफ नई विचारधारा की लहर फैल रही थी, दूसरी ओर रूढ़ परंपराओं से लोग जकड़े हुए थे। पूरी बस्ती में अजीब विरोधाभास के चित्र दिखाई दे रहे थे।" (पृ. 147) इस चेतना और विदेशी वस्त्र जलाने वाली 'स्वदेशी' चेतना में किस तरह तुलना की जाए? 'स्वदेशी' के समर्थकों, विचारकों के सरोकारों में 'मरीमाई' का, 'पोतराज' का मुद्दा शामिल था? दया पवार ने 'स्वतंत्रता दिवस' को याद करते हुए लिखा, "अभी तक याद है, स्वतंत्रता की जलेबी चौथी कक्षा में मिली थी। एक चमकदार बिल्ला मिला, जिसमें भारतमाता की प्रतिमा अंकित थी। बड़े गर्व से उसे छाती पर लगाकर घूमता। परन्तु स्वतंत्रता मिली अर्थात् वास्तव में क्या हुआ? गाँव के स्कूल में नेताओं के भाषण हुए। वे जो कुछ भी बोल रहे थे, मेरी समझ के बाहर था।" ('अछूत', पृ. 53) 'समझ से बाहर' होना उम्र के कारण नहीं, संवेदना के कारण था। किन प्रश्नों से कौन संवेदित होगा, यह तय होता है उसके सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से। दया पवार लिखते हैं: "सवर्ण लड़कों की और मेरी संवेदना में काफी अंतर है। इसका अनुभव वैसे स्कूल में ही हो गया था। .. साने गुरुजी की "भारतीय संस्कृति" विषय पर निबंध प्रतियोगिता थी। कुलकर्णी नाम के हमारे मराठी शिक्षक थे। निबंध पढ़कर वे बहुत बेचैन हो उठे। उन्होंने मुझे बुलाकर बहुत समझाया, "तू जो विचार रखता है, दरअसल वह राष्ट्रदोह है।" (पृ. 165)

दलित आत्मकथनों में 'सवर्ण राष्ट्रवाद' के प्रति निर्मम रवैया है। लेकिन निर्ममता अपने प्रति भी है। बाबासाहेब के बाद सामाजिक आन्दोलन की क्या गति हुई इसका बड़ा आलोचनात्मक विश्लेषण मराठी के आत्मकथनों में मिलता है। रिपब्लिकन पार्टी में किस तरह फूट पड़ी, उसके कितने धड़े हुए, इन धड़ों का क्षेत्रीय, जातिगत, उपजातिगत आधार क्या थे – पूरी हालात का जायजा दलित आत्मकथनों में मिलेगा। 'अछूत' में पूरी तफसील है (देखें, पृ. 210-11 व आगे)

बेबी कांबले तल्ख स्वर में कहती हैं: "हमारे बच्चे इतने नालायक निकलेंगे यह कभी सोचा ही नहीं था। हमने परजीवी पैदा किये। अब हमारे नेता भी भ्रष्ट हो गए हैं। उन्हें दिल्ली की गद्दी चाहिए। यह देख मेरा मन रो पड़ता है।" ('जीवन हमारा', पृ. 132) यह ध्यान

रहे कि बेबी कांबले का आत्मकथन आज से पचीस बरस पहले (1986) में छपा था। शंकरराव खरात भी अपने आत्मकथन का समापन लगभग बेबी कांबले के स्वर में करते हैं: "... लेकिन हमारा दलित समाज आज भी घने अंधकार में से बाहर निकलने के लिए छट पटा रहा है। वह आज भी उससे बाहर नहीं निकल सका, यह बात मुझे चुभती रहती है और मैं बेचैन हो जाता हूँ..." (पृ. 286) अपने आत्मकथन के आखिरी हिस्से में शरण कुमार लिंबाले 'आंबेडकर जयंती' का एक अनुभव बताते हैं: डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरजी का जुलूस निकला। दगडु वाघंबर जोर-जोर से नारे लगा रहा था। बनसोडे गुरुजी, धंसवाडीकर गुरुजी और कदम मामा जुलूस में घूम रहे थे। यह जुलूस विशुद्ध महारों का था। विशुद्ध खानदानी महार। और मैं? इस पूरे जुलूस में मैं भ्रष्ट जारज खूनवाला। मुझे हलकेपन का अहसास हो रहा है। 'भीम जनमा सोमवंशी कुल में' जैसी गीत पंक्तियाँ सुनकर मैं छटपटाता हूँ। डॉ. आंबेडकर भी पूरे महार जाति के नहीं हैं। वे भी महारों में सोमवंशी कुल के। इन सबमें मैं कहा हूँ?" ('अक्करमाशी', पृ. 162) साहित्यिक विमर्शों में जब राजनीतिक दृष्टि और लेखकीय ईमानदारी की चर्चा होती है तो दलित आत्मकथनों का जिक्र भी नहीं किया जाता। ये आत्मकथन वस्तुतः मानक बनने की क्षमता रखते हैं।

16-6 nfyf L=h vkRedFkk dk of'k"V;

दलित आत्मकथनों पर विचार करते समय हमारा ध्यान दलित स्त्री आत्मकथनों पर जाता है। ये आत्मकथन दलित लेखन और चिंतन के नए अध्याय के रूप में देखे जाते हैं। इनसे दलित साहित्य की निरंतर विकसित होती धारा की सूचना मिलती है। इन आत्मकथनों पर विचार के ये बिन्दु होंगे:

- क) दलित स्त्री की जिंदगी का सच।
- ख) दलित स्त्री का प्रतिरोध।

16-6-1 nfyf L=h dh ftaxh dk l p

स्त्री शिक्षा पर सबसे पहले और सर्वाधिक जोर देने वाले सत्यशोधक समाज (1873) के संस्थापक महात्मा ज्योतिबा फुले का कहना था कि "राख ही जलने का दर्द जानती है।" दलित स्त्री आत्मकथनों का मूल्य इस कथन की रोशनी में बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। डॉ. आंबेडकर ने फुले के अभियान को आगे बढ़ाते हुए स्त्रियों को सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन से जोड़ा था। दलित स्त्रियों की एक जाग्रत और संघर्षशील पीढ़ी आंबेडकरी आन्दोलन के दौरान तैयार हुई। आत्मकथन लिखने की हिम्मत और शुरुआत इसी पीढ़ी ने की। प्रमुख दलित स्त्री आत्मकथनों में 'रात्रनदिन आम्हा...' (1990, शांताबाई, धनजी दानी, 1919-2001) 'मितलेली कवाड' (1983, मुक्ता सर्वगोड, 1922-2004), 'माज्या जल्माची चित्तरकथा' (1990, शांताबाई कृष्ण कांबले - 1923, हिन्दी अनुवाद 'नाज़ा' 2009), 'अंतःस्फोट' (1989, कुमुद पावडे - 1938, इस आत्मकथा के एक अंश का हिन्दी अनुवाद 'कथादेश' हिन्दी मासिक में अप्रैल 2005 अंक में छपा है।), 'आयदान' (2003, उर्मिला पवार-1945) आदि हैं। हिन्दी में अब तक पूर्ण आत्मकथन दो ही हैं - 'दोहरा अभिशाप' (1999, कौशल्या बैसंत्री) तथा 'शिकंजे का दर्द' (सुशीला टाकभौरे)। इसके अतिरिक्त 'अपेक्षा' और 'अन्यथा' पत्रिकाओं ने दलित स्त्री पर केन्द्रित विशेषांक निकाले हैं जिसमें कई दलित लेखिकाओं के आत्मकथन प्रकाशित हैं।

दलित स्त्री आत्मकथन एक बड़े अभाव की पूर्ति करते हैं। दलित स्त्रियों ने दलित आंदोलन को बहुस्तरीय बनाया है। अपनी जिंदगी का सच बयान करके उन्होंने आंदोलन

की दिशा को वांछित परिप्रेक्ष्य देने का काम किया है। दलित स्त्रियों की जिंदगी, उनकी समस्याओं से आंबेडकरवादी आन्दोलन का जुड़ाव मजबूत हुआ है। परिवार का जो ढाँचा हमारे समाज में है वह पितृसत्तात्मक है। इस पितृसत्ता के 'दलित संस्करण' पर बहस इन आत्मकथनों के प्रकाशन के बाद के बाद बेहतर ढंग से शुरू हुई है। दलित स्त्री को स्त्री होने का, दलित होने का और गरीब होने का तिहरा संताप एक साथ झेलना पड़ता है। गैर-दलित पुरुषों के लिए वह उपभोग सामग्री है तो गैर-दलित स्त्रियों के लिए तिरस्कार योग्य समुदाय। स्वयं दलित पुरुषों की निगाह उसे गैर-बराबर मानती है। उर्मिला पवार कहती हैं कि अपनी स्त्रियों के प्रति दलित पुरुषों का व्यवहार मानवीय नहीं होता। (ट्रांसलेटिंग कास्ट, पृ. 237)।

दलित समुदाय की कई ऐसी प्रथाएँ हैं जो घोर स्त्री विरोधी हैं। ऐसी ही एक 'खोड़ा प्रथा' का जिक्र बेबी कांबले ने अपने आत्मकथन में किया है। ('जीवन हमारा', पृ. 109-11) आदमी अपना प्रभुत्व साबित करने के लिए बहू को पीटता। अत्याचारों से तंग बहू अगर मायके भाग जाती तो उसे पुनः ससुराल लाया जाता। "ससुराल पहुँचने पर उस पर एक नया कहर टूट पड़ता। पाँच किलो वजन की लकड़ी बढ़ई के पास ले जाकर गोल आकार में कटवाई जाती। उस गोल लकड़ी के बीचो बीच पाँव घुसने जितना छेद बनवाया जाता। पाँव में पहनाने के बाद वह निकल न जाए, इसलिए छेद के बीचो-बीच एक सरिया लगा दिया जाता। यह बहू के सीधे पाँव में पहना दिया जाता। इसे 'खोड़ा' कहा जाता है।" (वहीं, पृ. 111) यह खोड़ा पहनकर बहू को सारा काम करना पड़ता। उसके पाँव जख्मी होते और उसमें से अक्सर खून निकलता।

दलित स्त्री की 'स्वतंत्रता' के बड़े गीत गाए गए हैं। दलित स्त्रियों के आत्मकथन इस समझ पर पुनर्विचार के लिए बाध्य करते हैं। कौशल्या बैसंत्री का 'दोहरा अभिशाप', शांता बाई कांबले का आत्मकथन 'नाज़ा' दर्शाते हैं कि दलित स्त्री के दुख ज़्यादा गहरे हैं, उस पर पाबन्दियाँ भी कम नहीं हैं। आत्मकथन की भूमिका में कौशल्या बैसंत्री लिखती हैं : "मेरे उच्च शिक्षित पति, लेखक और भारत सरकार में उच्च पद पर सेवारत रहे। उन्हें ताम्र पत्र भी मिला है और स्वतंत्रता सेनानी की पेंशन भी। पति ने कभी मेरी कदर ही नहीं की बल्कि रोज़ रोज़ के झगड़े, गालियों से मुझे मजबूरन घर छोड़ना पड़ा और कोर्ट केस करना पड़ा।" यह उच्च शिक्षित परिवार की हकीकत है। शांता कांबले और सुशीला टाकभौरे को भी अपने पतियों से कम दुख नहीं मिले। शांता कांबले साबित करती हैं कि भूख की समस्या का सामना दलित स्त्रियों ने ज़्यादा किया है। लालू महारिन का प्रसंग बानगी के तौर पर देखा जा सकता है : "लालू महारिन को बच्चा हुआ। बारह दिन हो गए लेकिन घर में खाने को एक दाना नहीं था। पेट भूख के मारे जल रहा था। क्या खाए कुछ सूझ नहीं रहा था। एकाएक लालू उठ खड़ी हुई। नवजात को गुदड़ी में सुलाया। ऊपर से कपड़ा ओढ़ाया और रामा चौगुले के केले के बागान की ओर निकल गई। केड़वारी से ही सटा हुआ भुट्टे का खेत था। लालू उसी में घुस गई और कच्चे भुट्टे तोड़कर खाने लगी। दूर से ही रामा चौगुले ने यह देखा तो आवाज़ लगाई - "कौन है भुट्टे के खेत में। भुट्टा तोड़ते तुझे शरम नहीं आती क्या?" यह कहते-कहते वह पास आ गया तो देखा लालू थी। वह बोला - "अरी कच्चे भुट्टे खा रही है!" लालू ने कहा - "मैं बारह दिन से जच्चगी में हूँ। घर में खाने को एक दाना नहीं है और पेट में आग लगी है। क्या खाऊँ मैं?" यह सुनते ही रामा ने दुखी होकर कहा - "अरे यह खाने से तो तू मर जाएगी। तेरा पति कौड़ी कहाँ गया? उसे कुछ काम नहीं है क्या?" "वह घर में बैठे हैं।" यह सुनकर रामा चौगुले चुप हो गया।" ('नाज़ा', पृ. 32-33)

लेखिका की माँ गवली बाई का अनुभव भी कुछ ऐसा ही है। (पृ. 33) कुमुद पावड़े ने अपने आत्मकथन में बताया है कि उनकी पढ़ाई पर व्यंग्य करने वाले सवर्ण समाज के लोग तो थे ही, “बल्कि बहुजन समाज के तथाकथित सुधारक, खुद को ब्राह्मण विरोधी बताकर इठलाने वाले .. महाभाग भी थे।” (‘मेरी संस्कृत कथा’, ‘कथादेश’ अप्रैल, 2005, पृ. 67)

16-6-2 nfyf L=h dk Áfrjkek

अपने ऊपर होने वाले अन्याय को सार्वजनिक करना वस्तुतः उसका प्रतिरोध करना है। दलित स्त्रियों के आत्मकथन लैंगिक उत्पीड़न का मुद्दा उठाकर न्याय के पक्ष में मानस तैयार करते हैं। ऐसा नहीं है कि आन्दोलन और लेखन में आगे आना दलित स्त्रियों के लिए सहूलियत भरा काम रहा हो। उन्हें सबसे पहला विरोध अपने ही समुदाय के पुरुषवादियों से सहना पड़ा। बेबी कांबले ने लिखा है : “समाज ने हमें गुलाम बनाकर रखा था लेकिन हम गुलाम भी इंसान ही थे। हमारी भी इच्छा होती कि हम भी किसी पर अपनी हुकूमत चलाएँ, किसी को गुलाम बनाएँ, इसलिए हमने अपने ही घर के लोगों को गुलाम बनाने की सोची और गुलाम बनाया। पराए घर से आई लड़की अर्थात् बहू को।” (‘जीवन हमारा’, पृ. 99) एक अन्य प्रसंग में वे लिखती हैं कि गुलाम बनाई गई औरतें “मन-ही-मन इस अन्याय और अपमान के विरोध के लिए छटपटाती भी थीं। (पृ. 112) कौशल्या बैसंत्री ने इसी तड़प को शब्द देते हुए लिखा, “पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं परन्तु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को होंगे परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरतीं और जीवनभर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने लाने की ज़रूरत है।” (‘दोहरा अभिशाप’, पृ. 8, भूमिका से)

न्याय की आस में अपनी पीड़ा को शब्द देने वाली दलित स्त्रियों को ‘डायन’ और ‘सुअर’ जैसे विशेषणों से नवाज़कर उनका मुँह बंद करने की कोशिश भी की जा रही है लेकिन समाज के जनतांत्रिकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ना है। ऐसे अवरोध असल में उसे और सजग-सचेत बनाने का काम करते हैं।

16-7 l kjkak

दलित आत्मकथन दलितों की जिंदगी के प्रामाणिक दस्तावेज़ हैं। वे दलितों पर किए गए दीर्घकालीन अन्याय के साक्षी भी हैं। इन आत्मकथनों ने साहित्य की प्रकृति, उसका तेवर, उसका मिज़ाज बदलने का काम किया है। आत्मकथनों की भाषा, शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, साहित्य-संसार में बहुत कुछ नया जोड़ते हैं। आत्मकथन एक साहित्य विधा के रूप में तो पहले से मान्य था, अब वह केन्द्रीय विधाओं में गिना जाने लगा है। दलित स्त्री आत्मकथनों ने न्याय और मानवाधिकार के प्रश्न को नए सिरे से उठाकर आलोचना का दायरा उल्लेखनीय रूप से बढ़ा दिया है।

दलितों की जिंदगी के सभी आयाम – सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक इन आत्मकथनों में दर्ज हैं। वर्णवादी क्रूरता के तमाम रूप दलित आत्मकथनों में देखे जा सकते हैं। साथ ही दलित जातियों के भीतर मौजूद जातिवाद भी पहचाना जा सकता है। पितृसत्ता के सवाल पर नया मंथन प्रारंभ करने की भूमिका भी इन आत्मकथनों ने निभाई है। साहित्य को नए पाठक देने का काम भी इस विधा ने किया है।

‘स्वतंत्रता का अर्थ’, ‘स्वाधीनता के लिए संघर्ष’ जैसे प्रचलित पदबंधों को पुनर्परिभाषित करने की अनिवार्यता दलित आत्मकथनों ने रेखांकित की है लेकिन इससे बढ़कर राष्ट्र की अवधारणा के सीमांकन का काम उन्होंने किया है। पिछली शताब्दी दलित आत्मकथनों से गुजरे बगैर ठीक से नहीं समझी जा सकती।

